

## पाश्चात्य तथा भारतीय सामाजिक चिंतको का सामाजिक न्याय संबंधी विचार

अवधेश कुमार

प्रवक्ता, राजनीति विज्ञान विभाग, जगत तारन महिला महाविद्यालय, इलाहाबाद।

### सारांश

न्याय लैटिन शब्द, जस्टीशिया से बना है जिसकी उत्पत्ति अंग्रेजी शब्द 'जस्टिस' से हुई है जिसका अर्थ है जोड़ना। इस प्रकार न्याय के अर्थ के अन्तर्गत विविध आदर्शों और मूल्यों का समायोजन या समन्वय किया जाता है। व्यवहारपरक संदर्भ में इसका संबंध राज्य के कानून की धारणा है जिसके परिणामस्वरूप कानून या न्याय जुड़वा धारणाएं बन जाती हैं। अर्थात्, न्याय का संबंध कानून व्यवस्था तथा सजा देने वाले नियमों की व्याख्या से भी होता है। सामान्य जीवन में न्याय का तात्पर्य होता है निष्पक्षता, उचित या जो नैतिक रूप में उचित हो। निस्संदेह न्याय एक मूल्यपरक अवधारणा है जो नैतिक रूप से अच्छा है वही न्यायपूर्ण है और जो अन्यायपूर्ण है उसकी इस रूप में निंदा की जाती है कि वह अनैतिक है। न्याय एक ऐसी लचीली धारणा है जो भलाई अथवा कल्याण की किसी भी धारणा के साथ अनुकूलित की जा सकती है। सामान्य अर्थ में न्याय का तात्पर्य होता है – कर्तव्यपरायणता या सदगुण। इसे सत्य और नैतिकता के रूप में भी परिभाषित किया जा सकता है। ग्रीक चिन्तक प्लेटों ने न्याय को सदगुण के रूप में परिभाषित किया है। उसके अनुसार न्याय किसी व्यक्ति को उसका हक दिलाना नहीं अपितु समाज के विभिन्न वर्गों और वर्णों में न्यायपूर्ण समानुपात है। इसके विपरित समतावादी दृष्टिकोण के अनुसार न्याय वहाँ स्थापित होता है जहाँ समानता को सर्वोच्च महत्व दिया जाता है।

**मूल शब्द:** न्याय, राज्य, सामाजिक आन्दोलन, धर्म, गाँधी एवं अम्बेडकर

### प्रस्तावना

प्लेटों के अनुसार न्याय का अर्थ है कि मनुष्य अपने उन सब कर्तव्यों का पूरा पालन करें, जिनका पालन समाज के प्रयोजनों की दृष्टि से किया जाना आवश्यक है। व्यक्तियों की योग्यताओं के अनुसार समाज और राज्य उनके लिए जिन कर्तव्यों और धर्मों का निर्धारण करते हैं, उनका यथावत पालन ही न्याय है, न्याय स्वं धर्मपालन है।

अरस्तु ने 'पालिटिक्स' में न्याय संबंधी सिद्धांत को राज्य के लिए महत्वपूर्ण माना है। उनके अनुसार न्याय का अर्थ नेक कार्य का व्यवहार रूप में प्रकट करना है। अरस्तु का कहना है कि न्याय के अनुसार धन, स्वतन्त्रता एवं समानता आदि को आधार न मानकर सदगुण को आधार मानना चाहिए। उसकी मान्यता है कि हम एक गुणशाली व्यक्ति से हर प्रकार के गुण प्राप्त कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त हमें यह भी देखना चाहिए कि व्यक्ति ने समाज के लिए क्या दिया है। इस सिद्धांत के द्वारा सदगुणी व्यक्ति को सरलता से खोजा जा सकता है जिसमें नैतिक, बौद्धिक एवं सैनिक आदि सभी तत्व मिल जाएंगे। इस तरह राज्य के पदों को गुणों के आधार पर विभक्त करना चाहिए और यही सच्चा वितरणात्मक न्याय है।

जॉन रॉल्स (1921-2002) ने अपनी विख्यात कृति 'ए थ्योरी ऑफ जस्टिस' (न्याय-सिद्धांत) (1971) के अन्तर्गत यह तर्क दिया है कि उत्तम समाज में अनेक सदगुण अपेक्षित होते हैं; उनमें न्याय का स्थान सर्वप्रथम है। न्याय उत्तम समाज की आवश्यक शर्त है, परन्तु यह उसके लिए पर्याप्त नहीं है। किसी समाज में न्याय के अलावा दूसरे नैतिक गुणों की प्रधानता हो सकती है, परन्तु अन्यायपूर्ण समाज विशेष रूप से निन्दनीय होगा। जो विचारक यह मांग करते हैं कि सामाजिक उन्नति के कार्यक्रम में न्याय के विचार को आड़े नहीं आने देना चाहिए, वे समाज को नैतिक पतन की ओर ले जाने की खतरा मोल ले रहे होते हैं। रॉल्स ने यह कल्पना की है कि मनुष्य अज्ञान के पर्दे के पीछे बैठा है। यह एक काल्पनिक स्थिति है जिसमें मनुष्य अपनी-अपनी आवश्यकताओं, हितों, निपुणताओं, योग्यताओं, इत्यादि से बिल्कुल बेखबर होते हैं, निपुणताओं,

योग्यताओं, इत्यादि से बिल्कुल बेखबर होते हैं। वे यह भी नहीं जानते कि वास्तविक समाज में कौन-कौन सी बातें संघर्ष पैदा करती हैं? अतः यदि उन्हें यह मालूम हो कि वे श्वेत या अश्वेत हैं, प्रोटेस्टेंट या कैथोलिक हैं, तो इससे कोई फर्क नहीं पड़ेगा क्योंकि उन्हें यह पता नहीं होगा कि समाज में किस-किस आधार पर भेदभाव बरता जाता है। परन्तु उन्हें अर्थशास्त्र और मनोविज्ञान का आंशिक ज्ञान होता है, और न्याय का बोध भी होता है।

न्याय के संबंध में जोसेफ एडीसन ने कहा है कि 'न्याय अपने-पराए को नहीं पहचानता, मित्र और शत्रु में अन्तर नहीं करता, और रिश्ते-नाते पर भी विचार नहीं करता यही कारण है कि उसे सब जगह अंधा दिखाया जाता है। वस्तुतः न्याय की अवधारणा सार्वभौमिक भी नहीं है। यह बहुत कुछ संस्कृति सापेक्ष है। भारत के भील या नागा जनजाति या समाज में जो न्याय-संगत समझा जाता है वह भारत के हिन्दू समाज में या अन्य भिन्न-भिन्न समाजों में न्याय के मापदण्ड एक से नहीं हैं और एक से हो भी नहीं सकते। इसका कारण यह है कि अलग-अलग समाजों की सांस्कृतिक संरचना अलग-अलग है। भिन्न-भिन्न समाजों के मूल्यों तथा आदर्शों में मौलिक अन्तर होता है। इसी प्रकार पूँजीवादी समाज में जो न्यायपूर्ण है वह साम्यवादी समाज में न्यायपूर्ण नहीं हो सकता। इसका कारण यह है कि दोनों प्रकार के समाजों की मूल्यों और आदर्शों की संरचना में मौलिक अन्तर पाया जाता है।

प्राचीन समय में न्याय का निर्धारण का आधार ईश्वर था। ईश्वर या किसी पैगम्बर द्वारा जो कुछ कहा गया वह न्याय था। विवादास्पद प्रकरणों में सन्त, पीर, पादरी, मुल्ला, मौलवी, पुजारी आदि का मत निर्णायक माना जाता था क्योंकि इन्हें ईश्वरीय शक्ति से विभूषित माना जाता था। ईश्वरीय शक्ति के सिद्धान्त के आधार पर या नाम पर समाज के पुरोहित वर्ग का वर्चस्व था। किन्तु यह व्यवस्था लम्बे समय तक नहीं चल पायी। कालान्तर में न्याय का आधार ईश्वरीय संसर्ग के स्थान पर शान्ति हो गयी। शक्ति सम्पन्न होने के कारण राजा लौकिक जीवन में न्याय का प्रतीक बन गया। राजतंत्र का विकास वास्तविक रूप में ईश्वरतंत्र या, धर्मतंत्र की रक्षा के उद्देश्य

से हुआ। इसके फलस्वरूप राजतंत्र के युग में न्याय के निर्धारण तथा न्याय की संस्थापना में सामन्त तथा पुरोहित दोनों वर्गों की मिली-जुली हिस्सेदारी रही। पुरोहित वर्ग ने राजा को ईश्वर का प्रतिनिधि प्रतिपादित किया, और धर्म के अनुसार समाज-व्यवस्था करना राजा का मुख्य दायित्व हो गया तथा धार्मिक कार्यों के सम्पादन और सम्पन्न करवाने का दायित्व पुरोहित वर्ग के पास ही रहा।

इस प्रकार प्राचीन काल में न्याय और न्यायिक अधिकार, न्याय सम्बन्धी नियमों का निर्माण, न्यायिक नियमों की व्याख्या, न्यायिक नियमों को लागू करने का अधिकार, समाज में सीमित लोगों के हाथों में था। कालान्तर में यह अधिकार केवल पुरोहित वर्ग के पास रहा। धीरे-धीरे इसके आधार में विस्तार हुआ और पुरोहित वर्ग के साथ-साथ सामन्त वर्ग भी इसमें हिस्सेदार बना। इस सामन्त वर्ग की भागीदारी प्रारम्भ में मात्र प्रतीकात्मक थी, किन्तु आगे चलकर न्याय सम्बन्धी समस्त अधिकार राजा के हाथों में केन्द्रित हो गये। पुरोहित धीरे-धीरे अधिकाधिक राज्य आश्रित होते गये। शनैः शनैः उनकी भूमिका रचनाकार एवं व्याख्याकार के स्थान पर पुष्टिकार में रूपान्तरित होती गयी। फ्रांस की राज्य-क्रान्ति का जनजीवन पर व्यापक एवं दूरगामी प्रभाव पड़ा। न्याय की अवधारणा तथा न्याय के अधिकार क्षेत्र में भी मौलिक परिवर्तन आया। न्यायिक विकास के इस चरण में तीन प्रकार के परिवर्तन दिखाई दिये—

- प्रथम, न्याय के ईश्वरीय आधार समाप्त हो गया।
- द्वितीय, लौकिक कानून का आधार नैतिकता हो गई जो विज्ञान एवं तर्क पर आधारित थी, न कि धर्म पर निर्भर थी।
- तृतीय, वंश, कुल, वर्ण एवं जाति सम्बन्धी जन्मजात न्यायिक विशेषाधिकार समाप्त हुए।

सामाजिक न्याय की अवधारणा का विकास हुआ। समाज के नियम एवं विधान के निर्माण, उनकी व्याख्या तथा इन्हें लागू करने से सम्बन्धित अधिकार के क्षेत्र का विस्तार हुआ। अब न्यायिक अधिकार पुरोहित एवं सामन्त वर्ग के बपौती नहीं रहे। लोकतंत्र की स्थापना के साथ न्यायिक विकास के इस तीसरे चरण में वैधानिक एवं न्यायिक अधिकार पूर्णतया जन-सामान्य के हाथों में आ गये।

राजा राममोहन राय पुनर्जागरण के प्रणेता तथा आधुनिक भारत के जनक थे। वे भारतीय इतिहास की वह कड़ी हैं जो उसके अतीत को उसके वर्तमान से जोड़ते हैं। राय एक बौद्धिक व तर्कशील व्यक्ति थे। उनकी दृष्टि तार्किक तो थी ही नैतिक और मानवतावादी भी थी। उन्होंने हिन्दू धर्म-ग्रन्थों के साथ बाइबिल तथा कुरान का गहन अध्ययन किया। राय ने हिन्दू धर्म की कट्टरवादिता को नकारा और धार्मिक पाखण्ड, अन्ध-विश्वास व कर्मकाण्ड का जमकर विरोध किया। उन्होंने ब्रह्म समाज की स्थापना की जिससे माध्यम से उन्होंने समाज के आचार-विचार में व्याप्त बुराइयों को दूर करने का प्रयास किया। सन् 1828 में राय से सती प्रथा के विरुद्ध संघर्ष छेड़ा। यह संघर्ष लगभग 20 वर्षों तक चलता रहा। अन्ततः इस संघर्ष में राय की जीत और कट्टरवादी हिन्दुओं की पराजय हुई। सती प्रथा के विरुद्ध राय की विजय वस्तुतः दासत्व के विरुद्ध स्वतंत्रता की, अन्याय के विरुद्ध न्याय की, असमानता के विरुद्ध समानता की, कट्टरवादिता के विरुद्ध प्रगतिशीलता की और परम्परावादिता के विरुद्ध आधुनिकता की विजय थी। राय ने हिन्दू समाज में प्रचलित तत्कालीन उत्तराधिकार के नियम को भेदभावपूर्ण बताया, क्योंकि उसमें नारी के साथ न्याय नहीं किया गया था। उनका कहना था कि स्मृतिकारों विशेष रूप से याज्ञवल्क्य, नारद, कात्यायन, विष्णु तथा वृहस्पति आदि ने हिन्दू नारी को अपने पति और पिता के सम्पत्ति में अधिकार प्रदान किया है। आर्थिक मुद्दे पर

राय सामन्तवाद के विरुद्ध थे। वे जमींदारों के हाथों गरीब किसानों के शोषण के विरुद्ध थे।

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने जाति व्यवस्था का विरोध किया। वे जाति पर आधारित सामाजिक असमानता के विरुद्ध थे। उन्होंने हिन्दू समाज में वर्णाश्रम धर्म की पुनर्स्थापना पर जोर दिया। वर्णाश्रम उनकी दृष्टि में जीवन की एक पद्धति है न कि असमानता का सिद्धान्त। उनका कहना था कि वर्ण का निर्धारण व्यक्ति के कार्य करने की मनोवैज्ञानिक क्षमता और उसके गुण के आधार पर होना चाहिए। व्यक्ति के कार्य और व्यवसाय वर्ण का निर्धारण करते हैं न कि जन्म का। इस प्रकार दयानन्द के विचार लोकतान्त्रिक थे क्योंकि वे व्यक्ति के गुणवत्ता को महत्त्व देते थे न कि उसके जन्म को। दयानन्द सरस्वती ने आर्य समाज (1875) की स्थापना की। आर्य समाज ने मूर्ति पूजा, कर्मकाण्ड व पाखण्ड का निषेध कर वैदिक धर्म का पुनरुत्थान किया। दयानन्द ने हिन्दू समाज में ऊँच-नीच और छुआछूत का खुलकर विरोध किया। आर्य समाज ने शूद्रों व दलितों को जनेऊ पहनने, मन्त्रोच्चार करने तथा वेद पढ़ने की स्वतंत्रता प्रदान कर उन्हें सामाजिक हीनता से मुक्ति दिलाने का उल्लेखनीय कार्य किया।

बीसवीं सदी के आरम्भ में श्री नारायण गुरु स्वामी ने दलितों की मुक्ति को दृष्टिगत रखते हुए 'एक जाति, एक ईश्वर, एक धर्म' के सिद्धान्त के आधार पर हिन्दू धर्म के समानान्तर एक नये धर्म का प्रतिपादन किया जो 'श्री नारायण धर्म' के नाम से जाना जाता है। इस धर्म के प्रभाव स्वरूप केरल के एक भूतपूर्व अधूत जाति 'इझावा' में 'श्री नारायण धर्म परिपालन' आन्दोलन का तेजी से प्रसार हुआ। अब्राहमण आन्दोलन का चरम स्वरूप हमें दक्षिण भारत के मद्रास प्रान्त में द्रविण आन्दोलन के रूप में देखने को मिलता है। 'द्रविण कजगम' आन्दोलन ने हिन्दू संस्कृति (अर्थात् आर्य संस्कृति), हिन्दू धर्म (अर्थात् आर्य धर्म) तथा हिन्दी भाषा के स्थान पर द्रविण संस्कृति, द्रविण धर्म तथा भाषा को अपनाये जाने पर जोर दिया। आगे चलकर इस आन्दोलन ने 'द्रविण मुनेत्र कजगम' आन्दोलन को जन्म दिया जिसने न केवल द्रविण भाषा, द्रविण संस्कृति और द्रविण समाज अपितु द्रविण राष्ट्र की स्थापना को अपना लक्ष्य निरूपित किया।

स्वामी विवेकानन्द वैयक्तिक एवं सामूहिक जीवन में धर्म को बहुत महत्त्व देते थे। उनका कहना था कि भारत में किसी प्रकार के सुधार या उन्नति की चेष्टा करने के पहले धर्म प्रचार आवश्यक है। धर्म से उनका आशय मिथ्याचार से नहीं अपितु निरपेक्ष सैद्धान्तिक सिद्धान्तों से है जो ईश्वर और मनुष्य के सम्बन्धों की व्याख्या करता है और नश्वरता से अनश्वरता की ओर बढ़ने का मार्ग प्रशस्त करता है। विवेकानन्द ने हिन्दू धर्म में व्याप्त अंधविश्वास, मिथ्याचार, पाखण्ड व कर्मकाण्डीय संकीर्णता का विरोध किया। वे एकेश्वरवाद, आत्मा की पवित्रता और आचरण की परिशुद्धता के पक्षधर थे। उन्होंने धर्म में ब्राह्मणवाद और ब्राह्मण वर्चस्व का विरोध किया। विवेकानन्द ने हिन्दू धर्म के मानवीय व सामाजिक पक्ष को उजागर किया और सामाजिक सहिष्णुता, समानता तथा विश्व बन्धुत्व सम्बन्धी भारतीय सांस्कृतिक मूल्यों की पुनर्स्थापना की। वे भारतीय समाज में नवजागरण के ज्योति पुंज और युवाओं के प्रेरणास्रोत थे। विवेकानन्द भारत में सामाजिक सुधार को बहुत महत्त्व देते थे किन्तु सुधार से उनका आशय इधर-उधर के या ऊपरी सुधार से नहीं था बल्कि से आमूल सुधार चाहते थे। उनका कहना था कि गत शताब्दी में सुधार के लिए जो भी आन्दोलन हुए हैं उनमें से अधिकांश केवल ऊपरी दिखावा मात्र ही रहे हैं। उनमें से प्रत्येक ने केवल प्रथम दो वर्गों तक ही सम्बन्ध रखा है, शेष दो से नहीं।

भारत में सामाजिक न्याय के प्रति जन-जागृति धार्मिक व सामाजिक सुधार आन्दोलनों से पैदा हुई। धार्मिक सुधार आन्दोलन ने एक ओर पाखण्ड और दूसरी ओर जात-पाँत व अन्य मध्ययुगीन कुमान्यताओं, जो राष्ट्रीय प्रगति व एकता के मार्ग में बहुत बड़ी बाधा थी, के विरुद्ध संघर्ष का आह्वान किया। आधुनिक युग में सामाजिक आन्दोलन का स्वरूप भले ही धार्मिक रहा हो किन्तु इसकी प्रकृति लोकतान्त्रिक व उदारवादी थी। इसने लिंग व जाति पर आधारित असमानता के विरुद्ध स्वतंत्रता व समानता का समर्थन किया। इसके माध्यम से समाज में पिछड़े वर्गों विशेष रूप से महिलाओं और अछूतों की मुक्ति के लिए ठोस पहल आरम्भ हुई। तात्पर्य यह है कि जैसे-जैसे आन्दोलन आगे बढ़ता गया इसके धार्मिक व सामाजिक पहलू कमजोर पड़ते गये और लौकिक व राजनैतिक पक्ष मजबूत होता गया।

गाँधी जी का कहना था कि अस्पृश्यता हिन्दू धर्म पर एक काला धब्बा है। उनकी मान्यता थी कि यदि अस्पृश्यता रहती है तो हिन्दू धर्म मिट जायेगा और यदि हिन्दू धर्म को जीवित रखना है तो अस्पृश्यता को मिटाना होगा। उन्होंने बहुत ही स्पष्ट शब्दों में कहा कि अस्पृश्यता रहे इससे अच्छा है कि हिन्दू धर्म मिट जाये। गाँधी की पहल पर पूरे देश में 27 दिसम्बर से 2 अक्टूबर (1932) तक देश में अस्पृश्यता निवारण सप्ताह मनाया गया। अमृत लाल बी० ठक्कर के नेतृत्व में 'अखिल भारतीय अस्पृश्यता विरोधी लीग' की स्थापना की गयी। इसी समय गाँधी ने प्रसिद्ध साप्ताहिक पत्र 'हरिजन' का प्रकाशन आरम्भ किया। इस पत्र के माध्यम से उन्होंने अस्पृश्यता के विरुद्ध जनमत जागृत करने का काम किया। 'अस्पृश्यता विरोधी लीग' का नाम आगे चलकर 'सर्वेन्ट्स ऑफ अनटचेबल्स सोसायटी' रखा गया जो अन्ततः 'हरिजन सेवक संघ' के नाम से विख्यात हुई। गाँधी ने दलितों को अपने आश्रम में रखा और उनकी सेवा की। उन्होंने एक दलित कन्या को अपनाया। गाँधी ने दलित बस्तियों का विस्तृत दौरा किया और दलितों के साथ तादात्म्य स्थापित किया। 'गाँधी सेवा संघ' की सदस्यता सम्बन्धी नियमावली में अन्य शर्तों के साथ एक अनिवार्य शर्त यह थी कि उसकी सदस्यता किसी ऐसे व्यक्ति को नहीं होगी जिसका सत्य और अहिंसा में तो विश्वास हो किन्तु अस्पृश्यता निवारण में नहीं हो।

भारत में सामाजिक न्याय की स्थापना के लिए किये गये संघर्ष का इतिहास डॉ० भीमराव अम्बेडकर के अवदान का उल्लेख किये बिना कभी पूरा नहीं हो सकता। अम्बेडकर एक विद्रोही थे। जिन्होंने सबको राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक न्याय दिलाने के लिए संघर्ष किया। आधुनिक युग में न्यायपूर्ण समाज की रचना के लिए देश में जिन सुधारकों ने कार्य किया उनमें से अधिकांश को इस कार्य के लिए प्रेरणा परानुभूतिवश मिली। केवल डॉ० अम्बेडकर ही ऐसे व्यक्ति थे जिन्हें यह स्वानुभूतिवश मिली। अछूत परिवार में जन्म लेने के कारण सामाजिक भेदभाव और तिरस्कार की जो पीड़ा अम्बेडकर ने झेली थी वह किसी अन्य ने नहीं। इसलिए सामाजिक अन्याय के विरुद्ध संघर्ष विशेष रूप से दलितों के उद्धार के लिए संघर्ष को उन्होंने अपने जीवन का ध्येय निरूपित किया। बहुत स्पष्ट शब्दों में अम्बेडकर ने कहा कि जिस दलित जाति में मैं पैदा हुआ उसे मुक्ति दिलाना ही मेरे जीवन का उद्देश्य है, यदि मैं उस उद्देश्य की पूर्ति नहीं कर सकता तो गोली मारकर अपना जीवन समाप्त कर दूँगा। यह स्वीकारोक्ति सामाजिक अन्याय के विरुद्ध संघर्ष के प्रति अम्बेडकर की प्रतिबद्धता और समर्पण को दर्शाती है। सामाजिक न्याय की स्थापना में डॉ० अम्बेडकर के अवदान की चर्चा करते समय उनके तत्सम्बन्धी वैधानिक एवं संवैधानिक योगदान को भुलाया नहीं जा सकता। ब्रिटिश भारत की वायसराय कौंसिल के लेबर मेम्बर (1942-46) के रूप में अम्बेडकर ने महिला श्रमिकों व पुरुष श्रमिकों के हितों की रक्षा के लिए तत्कालीन श्रम सन्नियमों में

संशोधन किये और उन्हें सुरक्षा प्रदान करने तथा उनके कल्याण के लिए अनेक योजनायें लागू की। श्रमिकों में निम्न व पिछड़ी जातियों की बहुतायत होने से श्रमिकों को मिलने वाले लाभ से इन जातियों के लोगों को तो लाभ मिला ही अन्य जातियों के गरीबों को भी लाभ प्राप्त हुआ। इस दौरान उन्होंने ब्रिटिश सरकार से दलितों के लिए छात्रवृत्ति तथा शासकीय सेवाओं में आरक्षण का भी प्रावधान कराया। संविधान की मसौदा समिति के अध्यक्ष के रूप में उन्होंने महिलाओं, अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जन जातियों एवं श्रमिकों को न्याय दिलाने के उद्देश्य से संविधान में अनेक प्रावधान किये। कानून मंत्री के रूप में डॉ० अम्बेडकर ने हिन्दू कोड बिल की रचना की जो हिन्दू महिलाओं की मुक्ति तथा हिन्दू समाज के पुर्नगठन की दिशा में उनका अविस्मरणीय योगदान है।

संविधान का उद्देश्य अपने सभी नागरिकों के लिए सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय, विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतंत्रता, प्रतिष्ठा और अवसर की समानता तथा व्यक्ति की गरिमा एवं राष्ट्र की एकता सुनिश्चित करने वाली बन्धुता का विकास करना है। मौलिक अधिकारों का उल्लेख संविधान के भाग-3 में किया गया है। ये अधिकार सभी नागरिकों को व्यक्तिगत तथा सामूहिक रूप से लोकतंत्र के सर्वोत्तम लाभ तथा जीवन की आधारभूत स्वतंत्रतायें एवं सुविधायें प्रदान करते हैं, जो जीवन को विशिष्ट व सर्वोत्तम बनाती है। सामाजिक न्याय को प्राप्त करने में मौलिक अधिकारों का महत्वपूर्ण स्थान है। किसी भी राज्य के संविधान में इन्हें सम्मिलित कर दिए जाने से ये अधिकार बहुत कुछ हद तक अनुल्लंघनीय हो जाते हैं। मौलिक अधिकार के रूप में जो अधिकार प्रदान किये गये थे, वे हैं— कानून के समक्ष समानता, अवसर की समानता, अस्पृश्यता उन्मूलन, स्वतंत्रता का अधिकार, वाक् स्वतंत्रता, सम्मेलन करने की स्वतंत्रता, पेशा या वृत्ति करने की स्वतंत्रता आदि जीवन तथा वैयक्तिक स्वतंत्रता की रक्षा, शोषण से सुरक्षा, किसी भी धर्म को मानने, उसका अनुसरण करने तथा उसका प्रचार करने की स्वतंत्रता, सांस्कृतिक तथा शिक्षा सम्बन्धी अधिकार जिसके तहत अल्पसंख्यकों को अपने धर्मानुकूल आचरण करने अपनी संस्कृति तथा लिपि सुरक्षित रखने का अधिकार है। मानव की गरिमा का प्रश्न भी सामाजिक न्याय के साथ महत्वपूर्ण रूप से जुड़ा हुआ है। कुछ लोग व्यक्ति के व्यक्तित्व की गरिमा को सामाजिक न्याय का स्वतंत्र घटक न मानकर उसे स्वतंत्रता एवं समानता से उत्पन्न हुआ मानते हैं। उनकी यह मान्यता काफी हद तक इस विचारधारा पर आधारित है कि यदि व्यक्ति को स्वतंत्रता एवं समानता प्राप्त है तो उसके व्यक्तित्व की गरिमा समाज में स्वयमेव ही स्थापित हो जाती है। साधारणतया ऐसा होता है किन्तु सदैव ऐसा नहीं होता।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मूलभूत उद्देश्यों सहित कई प्रमुख मुद्दों जैसे स्वाधीनता, न्यायपूर्ण समाज की रचना, दलित एवं कमजोर वर्गों का उत्थान आदि पर गाँधी एवं अम्बेडकर में सहमति थी। यद्यपि मतभेद थे तो वे मुख्यतया इनके बीच प्राथमिकता अथवा इन्हें प्राप्त करने की पद्धति से सम्बन्धित थे। साथ ही आपसी भेद के कई मुद्दों को इन दोनों ने अपने जीवन-काल में या तो सुझला लिया या उसके लिए आवश्यक पृष्ठभूमि तैयार कर ली। अतः दोनों महापुरुषों ने एक स्वस्थ राष्ट्र निर्माण में परस्पर सहयोग का कार्य किया जिनके परिणाम स्वरूप भारत के संविधान में कमजोर निर्बल वर्ग के लोगों की सहायता प्रदान करने के लिए आरक्षण की व्यवस्था की गयी। यह व्यवस्था सामाजिक न्याय की प्राप्ति में महत्वपूर्ण कदम है।

### सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. धवन, शकुन्तला, डॉ० अम्बेडकर: अ पोस्ट आफ सोशल जस्टिस, योजना (अप्रैल 15), 1991।
2. रदरमुण्ड, इन्दिरा, महात्मा गाँधी और हरिजन, गाँधी मार्ग 15, 1979।
3. देसाई, ए०आर०, सोशल बैकग्राउण्ड आफ इण्डियन नेशनलिज्म, पापुलर प्रकाशन, बम्बई, 1982।
4. सिंह, आर०जी०, सामाजिक न्याय एवं दलित संघर्ष, 2006।
5. मल, पुरण, दलित संघर्ष और सााजिक न्याय आविष्कार पब्लिशर्स एवं डिस्ट्रीब्यूटर्स, जयपुर, 2002।
6. राफेल, डी० डी०, प्राल्म ऑफ पालिटिकल फिलास्फी, मैकमिलन, 1979।
7. शर्मा, प्रभुदत्त, पाश्चात्य राजनीतिक विचारों का इतिहास (प्लेटो से मार्क्स,) कालेज बुक डिपो, जयपुर, 1999।
8. गाबा, ओ० पी०, राजनीतिक सिद्धान्त की रूपरेखा, मयूर पेपरबैक्स, दिल्ली, 2006।
9. सिंह, राम गोपाल, सामाजिक न्याय एवं दलित संघर्ष, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 2006।
10. सिंह, आर०जी०, भारतीय दलितों की समस्याएँ एवं उनका समाधान, 1986।
11. विवेकानन्द, स्वामी, विवेकानन्द साहित्य (खण्ड 5), अद्वैत आश्रम, कलकत्ता, 1973।